International Journal of Scientific Research in Science and Technology
Print ISSN: 2395-6011 | Online ISSN: 2395-602X (www.ijsrst.com)
doi : https://doi.org/10.32628/IJSRST

ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी और आधुनिक विज्ञान

डॉ0 मो0 इमरान काजमी

S/O - मो0 इनाम, मु0–मनहरनलाल, खानकाह चौक, पो0–लालबाग, जिला–दरभंगा

Article Info
Volume 7, Issue 5
Page Number: 196-207
Publication Issue :
September-October-2020

सार–संक्षेप

भारत में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी का आजमन और आधुनिक विज्ञान का अभ्युदय प्रायः एक ही साथ हुआ। कम्पनी की स्थापना 1600 ई0 में हुई। यही समय वैज्ञानिक क्रांति का भी था। 1662 में रॉयल सोसायटी ऑफ लन्दन की स्थानपा होने तक कम्पनी का कारोबार परवान चढ़ चुका था। सूरत, मद्रास और यजुलीपट्टत में इसके वाणिज्य केन्द्र स्थापित हो चुके थे। भारत में औपनिवेशिक काल में आरंभिक वर्षों के मुख्य विज्ञान–वनस्पतिशास्त्र, भूगर्मशास्त्र और किसी हद तक जंतुविज्ञान–ठोक शक्ल ग्रहण कर रहे थे। लगभग उसी समय अर्थात् 18वीं शदी के मध्य कम्पनी ने अपने क्षेत्र का विस्तार करना शुरू किया। 1749 में बूफ्फन की पुस्तक ''नेचुरल हिस्ट्री'' के प्रथम खण्ड का प्रकाशन हुआ। उस समय कनौटक में अंग्रेजों और फ्रोंसीसियों के बीच प्रतिद्वद्विता चरत पर थी। 1757 के पालसी युद्ध, जिसने बंगाल में ब्रिटिश प्रमुख का मार्ग प्रशस्त कर दिया, में चार वर्ष पूर्व 1753 में लिनीयस की रचना ''स्पीथीज प्लांटेरम' प्रकाशित हो चुकी थी। इस पुस्तक में द्विपदीय नामकरण की पद्धति प्रचलन में आई। मेट्रोपालियन वैज्ञानिक समाजों की उभरती पीढ़ी के लिए प्रतिमान स्वरूप जिअलॉजिकल सोसायटी ऑफ लन्दन की स्थापना 1807 में स्थापना होने तक ब्रिटिश सत्ता भारतीय प्रायद्वीप के विशाल भूभागो, विशेषकर उत्तर भारत में फैल चुकी थी और अब मराठों की कमर तोड़ने की तैयारी में थी। 1830 मतें लायल की पुस्तक प्रिंसिपल्स ऑफ जिअॅलॉजि, सिकी गणना आधुनिक भूगर्भशास्त्र के मूल प्रवर्तक ग्रंथों में होती है, के प्रथम खण्ड के प्रकाशन की तीन वर्षों के अन्दर कम्पनी में बचे खुचे व्यापारिक अधिकार लुप्तप्राय हो गए और नबंवर, 1859 में डार्विन के ''ऑरिजिन ऑफ स्पीशीज'' में प्रकाशन के करीव 12 माह पहले कम्पनी अपना बोरिया बिस्तर समेट चुकी थी।

शब्द कंजी: ब्रिटिश काल, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, आयुर्विज्ञान, कृषि विज्ञान

Article History
Accepted : 01 Oct 2020
Published : 05 Oct 2020

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

प्रस्तावना

भारत में विज्ञान के मामलों में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लदंन स्थिति कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स की तूती बोलती थी। कम्पनी स्वयं ब्रिटेन में विज्ञान के अग्रणी संरक्षकों में एक थी और इस उपमहाद्वीप में यह और इसके कर्मचारी पाश्चात्य वैज्ञानिक गतिविधियों पर पूर्ण नियंत्रण रखते थे। अपने व्यापारिक विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखने और बाहरी ताकतों को अपने अधिकारों में खलल डालने से रोकने के लिए कम्पनी भारत में यूरोप के प्रवेश को विणियमित करती थी। किसी भी वैज्ञानिक अभियान को शुरू करने के लिए कम्पनी का अनुमोदन अनिवार्य था और किसी भी वैज्ञानिक आगन्तुक, चाहे वह कितना भी नामी–गिरामी क्यों न हो, को भारत आने की अनुमति देने में कम्पनी भारी हीला–हलावा करती थी। अगर फ्रेंच–प्रकृति–वैज्ञानिक एवं पर्यटक विम्तर जैक्वियॉट की, जिसकी मृत्यु भारत में हुई, बात छोड़ दे तो कम्पनी कर्मचारियों ने विज्ञान के मामलों में एकाधिकार का सबसे बड़ा अपवाद 19वीं सदी के अग्रणी ब्रिटिश वनस्पतिशास्त्रियों में एक जोसेफ डास्टजहुकर[1] को माना जाएगा, जिसने 1848–50 में भारत का भ्रमण किया। जर्मन प्रकृति वैज्ञानिक अलैक्जेंडर वॉन हमबोल्त ने काफी प्रयास किए, किन्तु उसे भारत आने की अनुमति कभी नहीं मिली।[2] जोसेफ बैक्स, चार्ल्स लायल और चार्ल्स डार्विन समेत अनेक जाने माने वैज्ञानिकों ने भारत का भ्रमण किए बगैर यहाँ के प्राकृतिक इतिहास में गहरी रूचि ली। यूरोप के वैज्ञानिक और तथ्य–संग्रहक नमूनो, मानचित्रों और वैज्ञानिक जानकारियों के लिए या तो सैनिक अधिकारियों, चिकित्सकों और सेवाकर्मियों के जानकारियों के लिए या तो सैनिक अधिकारियों, चिकित्सकों और सेवा कर्मियों के साथ अपने अनौपचारिक संबंधों पर निर्भर रहे या फिर स्वयंकम्पनी की उदारता पर।[3]

भारत में नौकरशाही और सैनिक नियुक्तियों में अभ्यर्थियों का मनोनयन कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के अधीन था, अतः वह संरक्षण के अधिकार से पूरी तरह लैस था और समुद्र पार ब्रिटेनवासियों को उपलब्ध वैज्ञानिक और प्राविधिक नियोजन की दृष्टि से अतिसम्पन्न क्षेत्रों में एक में प्रवेश को विनियमित करता था। एक बार भी कम्पनी द्वारा नियोजित उसके जो सेवाकर्मी अपनी वैज्ञानिक अभिरूचि बनाए रखना चाहते थे वे कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स अथवा भारत में इसके सर्वोच्च प्रतिनिधि गवर्नर जेनरल के अनुमोदन और वित्तीय समर्थन पर पूर्णतः निर्भर रहते थे। कम्पनी द्वारा विज्ञान के समर्थन का एक आरम्भिक उदाहरण लें। 1790 के दशक में इसने शल्य चिकित्सक वनस्पतिशास्त्री विलियम कॉक्सबर्ग को उसकी चित्रों में भारी रचना ''प्लांट्स ऑफ द मोटोपैडल कोस्ट'' के प्रकाशन हेतु तीन सौ पौंड प्रदान किए। तीन खण्डो वाली यह रचना 1819 में जाकर पूरी हुई और कम्पनी को इस पर दो हजार पौंड खर्च करने पड़े, लेकिन तब तक प्राकृतिक इतिहास की ऐसी मँहगी रचनाओं के लिए बाजार विलकुल मंदा पड़ गया था। इस व्यापारिक तबाही ने कम्पनी को ऐसे कार्यो में उदारतापूर्वक दान के प्रति हतोत्साहित किया और बाद के वैसे प्रकृतिवादियों को इससे भारी निराशा हुई जो अपने को ऐसे उदारदान के हकदार समझते थे।[4]

1840 के दशक में कम्पनी ने ह्यू फॉकनर और प्रोबी टी. कोटली को उत्तर भारत के शिवालिक के जीवाश्यो की सूची के प्रकाशन में आर्थिक सहायता की और चालीस प्रतियों के लिए एक गिन्नी देने का वादा किया। परन्तु लन्दन में रॉयल सोसायटी और कई अन्य वैज्ञानिक निकायों के प्रयाय के बावजूद कोर्ट ऑफ डारेक्टर्स ने फॉकनर और कोटली द्वारा भारत में जलयान के भेजे गए चालीस टन जीवाश्यों के वर्गीकरण, निदर्शन एवं प्रदर्शन के कुल व्यय का भुगतान करने से इनकार कर दिया। ब्रिटिश सरकार द्वार प्रदत्त एक हजार पौड की तुलना में चालीस गिन्नियाँ साधारण रकम थी।[5] डूकर की रचना फ्लोराइडिंका का प्रथम और एकमात्र खण्ड 1855 में प्रकाशित हुआ। इसके प्रकाशनके लिए हूकर वित्तीय सहायता की आस लगाए था, लेकिन कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने इसमें तनिक दिलचस्पी नहीं ली। 19वीं सदी के भारतीय वनस्पतिशास्त्र की

इस एकमात्र अति महत्त्वपूर्ण रचना को पूर्ण प्रकाशन हेतु प्रशासकीय अनुग्रह और समुचित आर्थिक सहायता पाने के लिए दीर्घ प्रतीक्षा करनी पड़ी और कम्पनी का अंत हो जाने के बाद ही यह संभव हो पाया। अतः यह आश्चर्य का विषय नहीं था कि कम्पनी के राजसी संरक्षण के लिए उदारतापूर्ण संरक्षण और सार्वजनिक शुल्क चुकाए जाने के बावजूद विज्ञान में जुड़े अनेक लोग एकान्त में पनीर विक्रेता सम्राट कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के दृष्टता एवं प्रवचना पूर्ण व्यवहार पर ताने कसते थे।[6]

कुछ इतिहासकारों ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि विज्ञान में कम्पनी की अभिरूचियाँ मात्र भौतिक लाभों की दृष्टि से निर्देशित नहीं होती थी, बल्कि विज्ञान के प्रति उसका दृष्टिकोण बौद्धिक और निष्पक्ष था। के डेसमैड ने यह स्वीकार किया है कि कम्पनी की नीतियाँ अनिवार्य रूप से मुनाफे की मंशा से निर्धारित होती थी, किन्तु उसने इस तर्क को मानने के इनकार किया है कि कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के सारे निर्णय और कार्य एकमात्र व्यापारिक उद्देश्यों की पूर्ति से संचालित होते थे। उसके अनुसार निदेशको ने लन्दन के लीडेन हॉल स्ट्रीट में अलाभकर पुस्तकालय और संग्रहालय की स्थापना की और उन पर होने वाले व्यय का भार स्वयं वहन किया, वे विद्वतापूर्ण रचनाओं के प्रकाशन में उदारतापूर्वक सहायता करते थे और अपने सेवाकर्मियों द्वारा प्राच्यविदया के अध्ययन में शायद ही किसी प्रकार की बाधा खड़ी करते थे।[7] लेकिन, क्योंकि कम्पनी भारतीय मामलों के कुव्यवस्थापन के लिए प्रायः प्रताड़ित होती रहती थी और क्योंकि विज्ञान ब्रिटेन के शासक वर्ग के लिए एक प्रतिष्ठामूलक उदय था,इसलिए यह कम्पनी के राजनीतिक हित में था कि उसे विश्व में विज्ञान का सर्वाधिक उदारयना संरक्षक के रूप में स्वीकार किया जाए। संभव है कि सुविधानुसार ''सवार्थ और विद्यानुरागिता दोनों प्रायः साथ–साथ चलते रहे हैं,[8] फिर भी स्वार्थ भाव तो स्पष्ट रूप से जाहिर हो जाता था, जब कि विद्यानुराग को यदा–कदा ही प्रश्रय मिलता था।

यह स्वीकार करते हुए कि विज्ञान को प्रश्रय एवं प्रोत्साहन देना सभ्य–सरकार का दायित्व था, कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स अथवा उसके प्रमुख प्रतिनिधि समय–समय पर विज्ञान में अपनी गहरी आस्था की उद्घोषणा करते रहते थे। 1804 में, जबकि ब्रिटिश प्रभुत्व परबानचढ़ रहा था, गवर्नर जनरल लार्ड वेलेस्ली ने घोषणा की कि भारत में अपनी उदात्त स्थिति के कारण ब्रिटिश सरकार का कर्त्तव्य है कि वह सामान्य विज्ञान के दायरे को विस्तृत करने के उद्देश्य से की जाने वाली छानबीन को सुविधा और प्रोत्साहन प्रदान करे। फिर भी जैसा कि मारिका विक्जियानी ने प्रकृति वैज्ञानिक फ्रांसिस ब्यूकानन की जीवन वृति की चर्चा करते हुए कहा है, वेलेस्ली इस तथ्य को भलीभांति समझताथा कि उसकी ख्याति में चार चाँद लगाने और उसकी विस्तारवादी नीतियों की आलोचना से लोगों का ध्यान मोड़ने के लिए वैज्ञानिक सर्वेक्षण अहम भूमिका अदा कर सकता था।[9] विज्ञान के जरिए अधिक संकीर्ण उपयोगितावादी लक्ष्यों को भी पूरा किया जा सकता था। 1787 में पौलेण्ड के वनस्पतिशास्त्री एंटन होव लन्दन स्थित बोर्ड ऑफ ट्रेड द्वारा कम्पनी के अनुमोदान के बगैर भारत इसलिए भेजा गया कि वह गुजरात में जो अभी मराठों के नियंत्रण में था, कपास और वस्त्र उत्पादन के संबंध में प्रतिवेदन प्रस्तुत करे। होब ने दीन–हीन वैद्य के छद्म वेश में सम्बद्ध क्षेत्र का व्यापक दौरा कर कृषि, आयुर्विज्ञान और अन्य वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिकमहत्वों पर विस्तृत प्रतिवेदन तैयार किया और लौटते समय किव के वानस्पति उदयानों के लिए पौधों के अनेक टोकरे जहाज में ले गया। लेकिन उसके मिशन के पीछे निहित व्यापारिक और राजनीतिक उद्देश्य छिपाए नहीं जा सके।[10]

दक्षिण एशिया में ब्रिटिश सत्ता की स्थिति जैसे–जैसे सुदृढ़ होती गई इसके मानवीय और भौतिक संसाधनों की ओर राजस्व–लोलुप प्रशासन का ध्यान उतना ही आकृष्ट होता गया और कम्पनी को उसके नए–नए अधिगृहित क्षेत्रों की जानकारी देने के लिए अनेक वैज्ञानिक सर्वेक्षण चलाए जाते रहे। इन सर्वेक्षणों में कुछ तो अत्यन्त महत्वपूर्ण थे, यथा– कर्नल कॉलिन मैकेंजी के अधीन 1799 और 1810 के बीच मैसूर का सर्वेक्षण, 1800–1 में फ्रांसिस ब्यकानन की मद्रास (अब चेन्नई) में मैसूर होते हुए केनरा की यात्रा और ब्यूकानन द्वारा 1807–14 में बंगाल और बिहार का सर्वेक्षण। कम्पनी के सामान्य वैज्ञानिक

क्रिया–कलाप की भांति ये सर्वेक्षण भी विवाद के विषय रहे हैं। क्या ये सर्वेक्षण शुद्ध भौतिक लाभो की दृष्टि से कराए गए अथवा ये वैज्ञानिक आकांक्षाओं और अवसरो के संबंध में अधिक विस्तृत परिकल्पना के अभिव्यंजक थे। क्या ये भारत के साम्राज्यिक व्यवस्था के उपकरण मात्र थे, अथवा स्वयं कम्पनी के सेवाकर्मियों के सुनिश्चित वैज्ञानिक उद्देश्यों के संकेतक थे। ये सर्वेक्षण भिन्न–भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति करते थे और मैकेंजी तथा बुकानन के एतद् विषयक प्रयोजन वही नहीं थे जो उनके वेतनदाताओं के थे। मैसूर सर्वेक्षण के सम्बन्ध में अपने उद्देश्यों का वणन करते हुए मैकेंजी ने 1800 में घोषणा की कि उसका अभिप्राय था.....हाल में मैसूर के परोजित राज्य में छीने गए भूभाग के संसाधन, शक्ति, सम्पत्तियों और सीमाओं की बेहतर जानकारी प्राप्त करना। इससे कम्पनी को वाणिज्य संबंधी आवश्यक जानकारी तो मिलेगी ही, प्राकृतिक इतिहास के ऐसे अनेक पहलू भी उजागर होगें जिनमें वैज्ञानिक ज्ञान के विकास में भी मदद मिलेगी।

पूर्वी भारत के सर्वेक्षण के लिए 1807 में कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स द्वारा बुकानन को जो निर्देश दिए गए थे उनमें कम्पनी के वित्तीय स्वार्थों के साथ–साथ शुद्ध वैज्ञसनिक अथवा जिज्ञासात्मक महत्व की बातें भी शामिल थी। उसे निर्देश दिया गया कि वह प्रत्येक जिला के प्राकृतिक संसाधनों, स्थल–आकृति, उसकी सीमा, मिट्टी, समतल मैदानों, पहाड़ो, नदियों, बन्दरगाहो, शहरो और अनुमंडलों के साथ–साथ पवन और मौसम तथा उन सारी बातों पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करें, जो उसकी समझ में देश के इतिहास और पुरावशेषों के संबंध में टिप्पणी के लायक हो। देश के प्राकृतिक उत्पादनो के संबंध में उसे पशुओं, उद्भिज, खनिज पदार्थों खासकर वैसी वस्तुओं जिनका उपयोग भोजन और दवा के रूप में अथवा व्यापार और निर्माण में होता हो, के स्वरूप के बारे में छानबीन करनी थी। इसमें मत्य पालन, जंगल, खदान और सुरंग जैसे विषय भी शामिल थे। कृषि, जिसमें फसलों औजारो और पशुधन से लेकर फॉर्मो तथा भूसम्पदा तक शामिल थे, को भी इस सर्वेक्षण में अलग नहीं रखा गया था। इसके अतिरिक्त बुकानन को क्षेत्र के निवासियों, उनके रीतिरिवाजों, वाणित्य और विभिन्न वस्तुओं के निर्माण के संबंध में भी प्रतिवेदन प्रस्तुत करने को कहा गया था। उसको दिए गए निर्देश के अंत में यह जोड़ दिया गया था कि सर्वेक्षण में जो भी उपयोगी अथवा दुर्लभ अथवा विलक्षण पौधे और बीज, उसके हाथ लगे उन्हें उनकी खेती के लिए आवश्यक जान पड़ने वाली टिप्पणियों के साथ कम्पनी के वनस्पति–उदयान को सौंप दें। यहाँ पर प्रयुक्त उपयोगी अथवा दुर्लभ अथवा विलक्षण जैसी शब्दावली कम्पनी शासन के आरंभिक वर्षों के विज्ञान में क्रियात्मक और आसंकारिक दोनों तत्वों के घाल मेल को बड़े सटीक ढंग में तय करती है, यद्यपि उक्त निर्देश में इस बात पर विशेष बल दिया गया था कि वह मुख्य रूप से उन्हीं विषयों की छानबीन करे जो भौतिक महत्व के होने की प्रबल संभावना रखते हों।[12] तथापि कम्पनी के कई अन्य सेवाकर्मियों की भांति प्राकृतिक इतिहास बुकानन की निजी पसन्द था और उसमें भी वनस्पतिशास्त्र तो उसका सर्वाधिक प्रिय विषय था। जैसा कि बिक्जियानी का कथन है, बुकानन अपने सर्वेक्षण में सबसे ज्यादा प्रभावित सर जान जिंक्लेयर की रचना स्टैटिस्टिकल ऑफ स्कॉटलैंड और उसके आधारभूत सिद्धांत उन्नति में था। यह पद अर्थात् उन्नति बुकानन के द्वारा युद्ध में तबाह मद्रास और मैसूर के विवरण में बार–बार आया है।[13] धन संसाधनों, जीविका के साधनों, जनसंख्या, जलवायु, सिंचाई और रीति–रिवाजों के संबंध थे आरम्भिक सर्वेक्षण माइकेल फूकोल्ट के शब्दों में गवर्नमेंटैलिटी पर प्रस्तुत किए गए आरंभिक आलेख माने जा सकते है, यद्यपि बूकानन के मामले में यह शासकीयमा मूदृश्य के प्रति, खासकर जल–प्रणातो और जंगलों के वर्णन में एक रूपानी संवेदनशीलता के आवारण में लिपटी दीख पड़ती है।[14]

निश्चय ही मैकेंजी और बूकानन ने अनेक इतिहाकारों का ध्यान आकृष्ट किया है और दर्शाया है कि कम्पनी और उसके सेवाकर्मी किस सीमा तक समय–समय पर क्रयबद्ध और सचेत वैज्ञानिक विधि से नये अधिगृहित क्षेत्रों की सूचियाँ व्यवस्थित और संकलित करने का प्रयास करते रहे, किन्तु उस काल में उनके ये प्रयास एक हद तक अपवादस्वरूप ही पाने

जाएगे। वास्तव में कम्पनी ने वैज्ञानिक परियोजनाआपें की कोई पहल नहीं की, उसने अपने कर्मचारियों की निजी वैज्ञानिक गतिविधियों को बर्दाश्त भर कर लिया। सैनिक पदाधिकारी, सरकारी सेवक, अभियन्ता और चिकित्सक मौसम–विज्ञान का अभिलेख रखकर, जीवाश्यों की तलाश कर अथवा स्थानीय पेड़–पौधों और जीव–जन्तुओं पर आवश्यक टिप्पणीयाँ संकलित कर या तो अपनी संस्कृति जिज्ञासा को संतुष्ट करते थे अथवा उनमें अपने अवकाश के घंटे बिताते थे, लेकिन कलकत्ता और लन्दन में बैठे उनके वरीय पदाधिकारी इनक ार्यों में न तो कोई दिलचस्पी लेते थे, न इनसे कोई मतलब रखते थे। दरअसल कम्पनी शासन का स्वरूप और सरकारी कामों का बोझ ऐसे मनोरंजनात्मक विज्ञान की खोजो को सुविधाजनक बनाने के बदले उनमें बाधा ही डाल सकता था। भारत स्थित शायद ही कोई यूरोपवासी ऐसा था जिसके पास विज्ञान के प्रति मनोयोगपूर्वक समर्पझा के लिए समय और अवसर था। एक ऐसा शिक्षित व्यक्ति जो सांसारिक कार्यों से विमुख रहकर अपना सारा समय दार्शनिक और साहित्यिक क्रिया कलाप में लगाए, 1788 में भारत में रह रहे यूरोपीय लोगों के लिजए अनजाना चरित्र था। प्रत्येक व्यक्ति प्रशासन, न्याय, वाणिज्य अथवा उदार वृत्तियों में से किसी न किसी में निरन्तर कार्यरत था।[15] ब्रिटेन के विपरीत, भारत में यूरोपीय पादरियों, जमींदारों और निर्माताओं में शायद ही कोई ऐसा था जो प्राकृतिक इतिहास पर आलेख प्रस्तुत करे अथवा अनुभवहीन वैज्ञानिक समाजों को संरक्षण प्रदान करे। सामान्य शोध कार्यों के लिए समय की कमी से कम्पनी के चिकित्सा सेवा में कार्यरत लोग भी, वनस्पतिशास्त्री रॉक्सबर्ग की भांति, परेशान रहते थे और उनकी समझ के अनुसार इससे ज्ञान की प्रगति में बाधा पड़ती थी।[16] जो लोग वैज्ञानिक ख्याति अर्जित करने लगे थे उनमें से कफछ जो जवानी में ही चल वसे और कुछ अन्य ब्रिटेन लौट गए, जिसके परिणामस्वरूप भारत उनसे होने वाले लाभों से वंचित रह गया। विज्ञान से जुड़े बिरले ही लोग इस मुल्क में सेवानिवृत होते थे। इसका एक दुलर्भ अपवाद था प्रकृति वैज्ञानिक बी.एच.हौग्सन ने जिसने 19वीं सदी के तीसरे दशक के हिमालय क्षेत्र के जंतु विज्ञान और नृजातीय विज्ञान पर विस्तारपूर्वक लिखा, सरकारी सेवा से 1843 में त्यागपत्र देकर भारत में ही रहना पसन्द किया और 15 वर्षों के बाद 1858 में ब्रिटेन लौट गया।[17]

ऐसी अपेक्षा की जाती थी कि कम्पनी साम्राज्य की सेवा में विज्ञान का ठोस उपयोग करेगी, किन्तु उसने इसमें जो भी थोड़ी बहुत अभिरूचि ली उससे ऐसा प्रतीत होता था कि वह उसके साथ यदा–कदा रोमांस कर रही हो। अब कभी इसके आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थ के अवसर आते थे अथवा किसी वैज्ञानिक उदय का मामला विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत किया जाता था तभी कम्पनी सक्रिय रूप से विज्ञान की तरह ध्यान देती थी। अधिकांश समय में राजस्व, राजनय, कानून और व्यवस्था के अत्यावश्यक सरोकारो की तुलना में इसका स्थान गौण ही रहता था। ब्रिटिश लोग विज्ञान की संगति का आनन्द लेते थे, ऐसा नहीं था कि इसके माध्यम से शासन करते थे। 1858 के पूर्व भारत में चल रही वैज्ञानिक गतिविधियों का एक बड़ा अंश राज्य में सम्बद्ध न होकर 19वीं सदी के मध्य तक ब्रिटेन में विकसित होने वाले भद्रलोकीय विज्ञान की परम्परा से सम्बद्ध था। इसके पास न तो काई नामलेवा विशेषज्ञ राजकीय अभिकरण था, न स्पष्ट रूप में परिभाषित कोई कार्यावली। जो लोग ब्रिटेन अथवा दक्षिण एशिया में भारतीय विज्ञान की वकालत करते थे उन्हें कम्पनी के लिए भौतिक लाभ वाले विषयों के प्रति कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स और भारत सरकार की उदासीनता उलझन में डाल देती थी। 1830 के दशक में ब्रिटेन असोसिएशन फॉर द एडवांसमेंट ऑफ साइंस की भारतीय शाखा के लिए शासकीय सहयोग का अभाव इस उदासीनता का ही प्रत्यक्ष प्रमाण था।[18] जैसा कि एच.जे.भ. लावुर्ड ने टिप्पणी की है, ऐसी स्थिति में जिस उत्साह के साथ वैज्ञानिक अभिरूचियाँ क्रियाशील रही और जिस परिमाण में रचनाएँ प्रस्तुत की गई वह विलक्षण था, यद्यपि हाल के इतिहासकार उसके इस निष्कर्ष को गंभरता से नहीं लेते कि कम्पनी काल में वैज्ञानिकों द्वारा किए गए अधिकांश कार्य स्थायी महत्व के नहीं थे।[19]

1840 और 1850 के दशकों तक सैनिक अभियंताओं और शल्य चिकित्सकों को कहा गया कि वे विदेशी विशेषज्ञों की भरती पर व्यय और बिलम्व किए वगैर प्रशासन को बहुप्रयोजनीय सुविज्ञता उपलब्ध कराएँ। यह तो कम्पनी युग की समाप्ति के आसपास की बात है कि भारतीय सेवा में विदेशी लोग भरती किए जाने लगे, क्योंकि उस समय तक वैज्ञानिक ज्ञान में विशिष्टीकरण होने लगा था और वैज्ञानिक प्रशासन की आवश्यताएँ प्रबल हो गई थी। 1851 में एक अभिनव परिवर्तन की चेष्टा में जिॲलॉजिकल सर्वे ऑफ आयरलैंड का पूर्व निदेशक टॉयस ओल्डम उस निकाय का भार ग्रहण करने भारत आया जो पाँच साल बाद जिॲलॉजिक सर्वे ऑफ इण्डिया के नाम से जाना जाने लगा। लेकिन तब भी उसके अधिकार में दिए गए संसाधन एक कार्यालय, एक लिपिक और दस चपरासी–आवश्यकता से बहुत कम थे। इससे जाहिर होता है कि कम्पनी की व्यावहारिक प्रतिबद्धता अभी भी कितनी सीमित थी। इसका एक आंशिक अपवाद था, 1818 में स्थापित ग्रेट ट्रिगॅनेंमेटकिल सर्वे ऑफ इण्डिया। यह अपने कार्मिक, समर्पित वैज्ञानिक और तकनीकी अभिकरणों के लिए सेना पर निर्भर था और 1850 के दशक के पूर्व अपने सैनिक और चिकित्सीय सेवाओं के मूल घेरे से उबरने लगा था। इसलिए यह आवश्यक है कि हम कम्पनीकालीन विज्ञान के सामान्य चरित्र और महत्व को रखांकित करने के लिए राज्य के सरकारी घेरे से बाहर नजर डालें।

कम्पनी काल के अधिकांश वैज्ञानिक प्रयास राजकीय संस्थाओं से बाहर अथवा उनके हाशिए पर किए गए। उदाहरणस्वरूप, भारतीय भूगर्भशास्त्र के अनेक आरंभिक वृतान्त सैनिक पदाधिकारीयों और चिकित्सकों द्वारा उनके पदोपेक्षित कर्त्तव्यों के हिस्से के रूप में नहीं, बल्कि व्यक्तिगत अभिरूचियों से प्रेरित और देश के विभिन्न भागों में प्रयास के क्रम में लिखे गए। बंगाल आर्मी के कैप्टन फ्रैंकलिन का संकलन उस समय किया ज बवह 1826–27 में बुंदेलखण्ड से होकर सैनिक प्रयास पर जा रहा था। इसी समय असिस्टेंट सर्जन हार्डी बड़ौदा में उदयपुर के लिए प्रमाण के दौरान अपने रेजिमेंट से इसलिए चुपके से खिसक गया कि वह रास्ते के किनारे की चट्टानों की जाँच कर सके। बाद में उसने अपने पाठको से इस बात के लिए क्षमा भी माँगी कि वह अधिक सुव्यवस्थित अनुसंधान नहीं कर पाया था। सैन्य अभियान के उप–परिणामस्वरूप ये वृतान्त सतही तो अवश्य थे, परन्तु इन्हें भारतीय स्ट्रेटिग्राफि की प्रथम रूपरेखा की लकीरें तो मानी ही जा सकती है।[20]

कम्पनी काल की महत्त्वपूर्ण खोजो के पीछे न तो कोई सरकारी प्रायोजकता थी और न किसी विशेष ज्ञान के संबंध में पहले से कोई विशेष जानकारी ही था। 1837 के नबम्बर में शिवालिक जीवाश्यों को खोदकर निकाला जाना। यह भारतीय जीवाश्मिकी, जलवायु परिवर्तन, और विलुप्त स्तनपायी प्राणियों में संबंधित विचार विमर्श की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। ह्यू फॉकनर नामक युवा कम्पनी शल्य चिकित्सक और सहारनपुर बोटेनिक गार्डन के पूर्व अधीक्षक ने बंगाल इंजिनियर्स के लेफ्टिनेंट प्रोबी टी. कॉटली और उसके सहायको डब्लू. ई. बेकर तथा एच. एम. डयूरैंड के द्वारा 1834 के अक्तूबर में यमुना नहर की खुदाई के दौरान की गई खोजों को आगे बढ़ाया। इस प्रकार के अभियंत्रण संबंधी कार्यों ने ब्रिटेन की भांति भारत में भी भूगर्भशास्त्रीय खोजो के लिए अपूर्व अवसर प्रदान किए, लेकिन फॉकनर ने देशी ज्ञान से भी फायदा उठाया। स्थानीय राजा जिसके पास विशालकाय शंकुदैत चर्वणक था, ने फॉडनर को यह बताया कि और अधिक नमूनों के लिए कहाँ पर खुदाईकी जाए और उसकी सलाह का अनुसरण करते हुए 6 घण्टो में तीन सौ जीवाश्य आस्थियाँ खोद ली गई।[21]

शिवालिक जीवाश्यों की खोज और शिनाख्त से फॉकनर और कॉटली ने यूरोप में भारी ख्याति अर्जित की और उन्हें 1837 में संयुक्त रूप से जिॲलॉजिकल सोसायटी के सम्मानजनक वोलेस्टन मेडल से नवाजा गया। कॉटली अपने नहर विभाग में लौट गया, बेकर और डयूरैंड को सरकारी कामकाज से शौकिया भूर्गभशास्त्र के लिए फूर्सत ही नहीं थी, मगर फॉकनर जो अभी तीस का भी नहीं हुआ था, ब्रिटिश भूगर्भशास्त्र का एक स्थापित नामबन गया। भारत लौटने के लिए उसे बाध्य तो किया गया, लेकिन 1845 में उसे रॉयल सोसायटी का फेलो चुन लिया गया और 1865 में मृत्युपर्यन्त वह इस सोसायटी की परिषद

का सदस्य और जिॲलॉजिकल सोसायटी का उपाध्यक्ष बना रहा। अपने समकालीन सर्वेक्षक जॉर्ज एवरेस्ट की भांति फॉकनर की जीवन वृत्ति ने प्रमाणित कर दिया कि किस प्रकार भारत में मैट्रोपोलिटन ख्याति और उससे जुड़े सम्मानों के लिए स्प्रिंग बोर्ड का काम कर सकता था।[22] एंड्रू ग्राउट का कहना है कि वोलस्टन मेडल प्रदान किया जाना न सिर्फ फॉकनर और कॉटली के लिए, अपितु भारत में क्रियाशील सारे भूगर्भशास्त्रियों के लिए भारी प्रतीकात्मक महत्व का था। स्पष्ट है कि यह क्षेत्र अभी भी उत्साही अध्यवसाथियो के लिए खुला था। यह इस बात का भी प्रमाण था कि भारत का भूगर्भशास्त्र और इससे जुड़े लोग मेट्रोपोलिटन विद्वान की नजर में बड़े महत्त्वपूर्ण थे।[23] इतना होने पर भी औपनिवेशिक विज्ञान पिछड़ेपन का दाग धो नहीं पाया था, क्योंकि 1837 में पदक प्रदान करते समय लायस ने खुलेआम टिप्पणी की थी कि फॉकनर और कॉटली ने जब अपने अनुसंधान किए तो वे, 'जीवाश्यीय अस्थि विज्ञान में निष्णात'' नहीं थे और हमारे भारतीय कब्जे के सुदूर सीमा प्रांतो में तैनात होने के कारण, जीवाश्यिकी को स्तरीय रचना अथवा जीवित विशेषज्ञो के सम्पर्क में बहुत दूर थे। वैज्ञानिक जगत से दूर रहकर जिस तरह उन्होंने इन प्रतिकूलताओं पर विजय पाई और जिस उत्साह के साथ वे वर्षो तक अनुसंधान कार्या करते रहे, उसकी लायल ने सराहना करते हुए उसे सच्चे अर्थ में प्रशंसनीय कहा, किन्तु औपनिवेशिक विज्ञान इस लाछन से मुक्त नहीं हो सका कि वह मेट्रापोलिटन विज्ञान की तुलना में अधकचरा है।[24] फॉकनर स्वयं भी फिर से औपनिवेशिक अलगावके लिए लन्दन छोड़नेका अनिच्छुक था और डार्विन तथा हूकर भीउसकी भारत वापसी को मेट्रोपोलिटन विज्ञान के लिए अहितकर मानतेथे। जब वह बड़े बेमन से कलकत्ता वापस आया तो नाराजगी में उसी एशियाटिक सोसायटी के प्रति चिड़चिड़ेपनऔर दंभपूर्ण व्यवहार करता रहा जिसने शिवालिक जीवाश्यों की रतह अंतर्राष्ट्रीय ध्यान आकृष्ट किया था।[25]

यह न्यायसंगत हो या नहीं लेकिन सच्चाई है कि कम्पनीकालीन भूगर्भ–विज्ञान अलगाव के तीव्र बोध से पीड़ित रहा। जब पर ब्रिटिश अनुभवाद के साथ संपृक्त हुआ तो इसने एक ऐसे विज्ञान को जन्म दिया जो जितना पराश्रित था उतना ही शंकाशील भी। जिस शल्य चिकित्सकों, अभियंताओं और सैन्य पदाधिकारियों ने पहली बार भूगर्भशास्त्र केबारे में लिचाा वे अपनी सुविज्ञता के अभाव पर अफसोस जाहिर करते थे। वे अपने को अनाड़ी मानते थे और तथ्यों को ठीक–ठाक ढंग से संग्रह और लिपिबद्ध करने तक ही अपने को सीमित रखते थे। वैसे यह काम भी उनकी दृष्टि में कम महत्वपूर्ण नहीं था क्योंकि उनके द्वारा संगृहीत तथ्य यूरोप के विशेषज्ञों के लिए वैज्ञानिक ज्ञान की अधिक विस्तृत पद्धतियों के निर्माण में कच्चे माल का काम करते थे। जब ब्रिटिश भूगर्भशास्त्र के हट्टोपियन वर्जेरियन विवाद बड़े जोरों पर था, उस समय फ्रेकलिन ने उसके बारे में टिप्पणी की थी, मैं उतना निपुन नहीं हूँ कि किसी एक के पक्ष में दलली दूँ। अपने इंगलैंड प्रवास के दौरान पढ़े गए कुछ पाठ और प्रकृति का विशाल ग्रंथ ही मेरे मार्गदर्शक है। उसकी सिर्फ इतनी ही कामना था कि वह तथ्यों को लिपिबद्ध करे, स्तरों को मानचित्र पर सही–सवही उतारे और वैसी बातों को प्रशय में लाए जो विज्ञान के लिए उपयोगी अथवा लाभकर हो।[26] यह भावना मन पे बैठ गई थी कि भारत की सर्वोत्तम प्रतिभाएँ भी न तो अपनी क्षमता का उत्कर्ष प्राप्त कर सकती है और न उन्हें वह स्वीकृति जिस सकती है जिसकी वे हकदार है, और यह सिर्फ भूगर्भशास्त्र पर ही लागू नहीं होता था। कलकत्ता रिब्यू की नजर में जेम्स प्रिंसेज, जिसने 1825 और 1839 केबीच एशियाटिक सोसायटी के लिए भूगर्भशास्त्र, मौसम विज्ञान औ मुद्राशास्त्र जैसे भिन्न विषयों पर साठ निबंध लिखे 'पूरब का हम्बोल्त बन जाता, बशर्ते कि वह सिर्फ हमारे पास ही छोड़ दिया जाता, लेकिन वह 1840 में मात्र 41 वर्ष की आयु में ही चल बसा। कम्पनी के वैज्ञानिकों द्वारा प्रदर्शित उत्साह और उर्जा के बावजूद उनकी प्रतिभा उनके क्षेत्रों में बिखरी हुई प्रतीत होती थी अथवा उनके सरकारी काम–काज एकनिष्ठ वैज्ञानिक अनुसंधान में बाधा डालते थे। फॉकनर, एवरेस्ट और शल्यचिकित्सक–सह–वनस्पतिशास्त्री जे फॉबिस रायली जैसे भारत से बाहर प्रतिष्ठा प्राप्त लोग भी ब्रिटेन के वैज्ञानिक समुदाय के बीच पहली बार जाते थे तो अपने अधकचरेपन के अहसास से ग्रस्त रहते थे।[27] लाएल

ने जिस अलगाव की चर्चा की थी वह कम्पनी काज की समाप्ति तक कमोवश बना रहा। 1856 में रॉयल ओल्डय ने टिप्पणी की, इस देश में हम संदर्भ ग्रंथों और तुलनात्मक अध्ययन के लिए तथ्यों की कमी के कारण भारी असुविधाओं के बीच परिश्रम करते हैं। हमारी कठिनाइयाँ ठीक वैसी ही है, जो बिना औजार वाले व्यापारियों और बिना दवा वाले चिकित्सकों की होती है। निश्चिय ही इन परिस्थितियों में यूरोप में होने वाली प्रगति को प्राप्त करना पूर्णतः असंभव था।[28]

कम्पनी के अधीन सारा विज्ञान न तो ब्यूकानन के सर्वेक्षण की भांति सैलानी था, न शिवालिक जिवाश्यों की खोज की भांतिक आकस्मिक। देहाती इलाको के सर्वेक्षण वैज्ञानिक टोह के मिशन और सैन्यदल के प्रमाणों तथा नहर खुदाई के दौरान किए गए निरीक्षणों में रही–सही कमी को विद्वत समाजों, पत्रिकाओं और संग्रहालयों द्वारा पूरा किया जाता था और इनके साथ–साथ सरकारी नीति और संरक्षण मिलकर औपनिवेशिक विज्ञान का चरित्र गठते थे। भारत के विद्वत समाजो में प्राचीनतम और सर्वाधिक यशस्वी समाज एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल न्यायाधीश–सह–प्राच्यशास्त्री सर विलियम जोंस की पहल पर जनवरी 1784 में कलकत्ता मे स्थापित किया गया। यद्यपि यह लन्दन के रॉयल सोसायटी के उत्प्रेरित था। मूलतः यह वैज्ञानिक निकाय नहीं था।[29] तथापि 1807 में जिऍलॉजिकल सोसायटी की स्थापना के बाद जिस प्रकार के विशेषीकृत वैज्ञानिक समाजों का लन्दन में विकास हुआ, उनका भारत में अभाव था और ऐसी स्थिति में एशियाटिक सोसायटी 1914 में इण्डियन साइंस काग्रेस द्वारा प्रतिस्थापित होने तक भारत में पाश्चात्य विज्ञान का मुख्य मंच बना रहा। सोसायटी के एशियाटिक रिसर्चेज नामक पत्रिका में 1788 और 1839 के बीच समय–समय पर वैज्ञानिक विषयों पर निबंध प्रकाशित होते रहे, परन्तु स्वयं कम्पनी की ही भांति, इसने साहित्यिक और भाषा विषयक अध्ययनों में अधिक अभिरूचि ली। वैज्ञानिक योगदान को विशेष प्रोत्साहन देने के लिए 1808 में एक समिति गठित की गई जिसका लक्ष्य प्राकृतिक इतिहास, दर्शनशास्त्र आयुर्विज्ञान के ज्ञान के बठावा देना, कलाओं तथा विज्ञानों और भौतिकी में, जो कुछ शामिल होता है, उसको विकसित करना था।[30] 1828 में फिजिकल क्लास को भी पुनर्जीवित किया गया लेकिन इसकी बैठकें अनियमित और उपस्थिति क्षीण होती थी। ''एशियांटिक सोसायटी ऑफ बंगाल'' 1830 के दशक तक वैज्ञानिक चेतना से अनुप्राणित कलकत्ता के अन्य समाजों, जिनमें 1820 में स्थापित ऐग्रिकल्चर सोसायटी और 1823 में स्थापित मेडिकल एवं फिजिकल सोसायटी भी शामिल थे, के साल होड़ लेने लगी थी। इस तरह के समाज बंगाल से बाहर भी कायम हुए जिनमें बम्बई और मद्रास के साहित्यिक वैज्ञानिक और चिकित्सीय सभाओं ने अधिक प्रसिद्धि पाई।[31] 1823 में लन्दन में स्थापित रॉयल एशियाटिक सोसायटी भारतीय सामग्री के प्रस्तुतीकरण और विचार–विमर्श के लिए एक और मंच के रूप में उभरा और अपनी अवस्थिति के बल पर मैट्रोपोलिटन वैज्ञानिक समाजों में घनिष्ट रूप से जड़ गया।

इसी प्रकार संग्रहालयों की भी विशेष भूमिका रही। वे न सिर्फ वैज्ञानिक अन्वेषणों के केन्द्र के रूप में अपितु औपनिवेशिक विज्ञान की ख्याति और स्वाभिमान की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण थे। यद्यपि वनस्पतिशास्त्र, जंतु विज्ञान और भूगर्भशास्त्र से सम्बद्ध ढेर सारे नमूने इसलिए लन्दन भेजे गए कि वे कम्पनी के इण्डिया म्यूजियम के अंग बन सके अथवा कंटिनेंटल संग्रहालयों में वितरित किए जा सकें, लेकिन अनेक नमूने भारत में ही रखे गए। क्षेत्र के सर्वप्रमुख वैज्ञानिक निकाय की हैसियत से एशियाटिक सोसायटी की तमन्ना थी कि इसके संग्रह ठीक ढंग से रखे और प्रदर्शित किए जाए तथा कलकत्ता में एक ऐसा संग्रहालय हो जो यूरोप की संस्थाओं से टक्कर ले ली, भारत के वैज्ञानिक झरोखे का भी काम कर सके। प्रकृतिवादी वैज्ञानिक नेयेनियल वालिया द्वारा 1814 में प्रथम बार, प्रस्तावित इस संग्रहालय में वैसे सारे निबंध रखे जाने थे, जो प्राच्य रिति–रिवाजों और इतिहास पर प्रकाश डालते हो, या पूरबी जगत की कलात्मक और प्राकृतिक विलक्षणताओं उजागर करते हों।[32] 1804 में स्थापित बम्बई लिटररी सोसायटी ने इसका अनुकरण करते हुए 1815 में प्राकृतिक इतिहास और पुरावशेषों

का निजी संग्रहालय कायम किया। इसके संग्रह व्यावहारिक उपयोग के थे। 1835 में भारत सरकार ने कोयला और दूसरे खनिजों के लाभ–उठाने के आभार से क्षुब्ध होकर अपने आर्थिक भूगर्भशास्त्रीय संग्रहालय के निर्माण का निर्णय लिया और आरम्भ में इसका भार एशियाटिक सोसायटी को सौंप दिया आगे चलकर 1856 में सारा संग्रह जिॲलॉजिकल सर्वे को हस्तांतरित कर दिया गया।

संग्रहालय आगे चलकर एक ऐसे सांस्थनिक स्थल भी बन गए जहाँ अधिक व्यावसायिक विज्ञान सम्बन्धी छानबीन होने लगी। इसके प्रबंधन के लिए जंतुशास्त्री एडबर्ड ब्लाइच को 1841 में पूर्णकालिक संग्रहालय के रूप में इंगलैंड से यहाँ से यहाँ भेजा गया। इस पद पर वह 1862 तक रहा। उसका वेतन भुगतान कम्पनी करती थी। उसकी नियुक्ति भारत में औपनिवेशिक विज्ञान के इतिहास में एक नए दौर की शुरूआत मानी जाती है, लेकिन उसकी जो दशा थी वह उस काल में वैज्ञानिक उद्यम पर लादी गई पाबंदियों का भी संकेतक थी। कम्पनी कर्मचारी के रूप में ब्लाइथ को उसके कर्त्तव्यों के बंधन में इस कदर जकड़ दिया गया कि कलकत्ता से बाहर जाने के लिए भी उसे अनुमति लेनी पड़ती थी। चौदह साल बाद 1855 में ब्लाइथ ने डार्विन के अपनी व्यथा सुनाई कि वह नगर से शायद ही कभी बाहर जा पाया था और अन्य स्थानों के पर्यटन तथा निरीक्षण के महत्वपूर्ण लाभों से वंचित रह गया था। अल्प वेतन और पुस्तकों स्थान तथा सक्षम सहायकों की कमी से निराश ब्लाइथ अंततः इंगलैंड लौट गया।[33]

ऐसे काल में जब वैज्ञानिक विचारों के प्रसार में छापाखाने की भूमिका अपरिहार्य हो गई[34] तो पत्रिकाओं का भी भारत में पाश्चात्य विज्ञान के परिपोषण में महत्वपूर्ण स्थान हो गया। उन्होंने न सिर्फ यूरोप के विद्वत समाज के तौर–तरीकों से स्पर्धा की, अपितु भारत और समीपवर्ती क्षेत्रों में फैले–बिखरे यूरोपवासियों के बीच सम्पर्क साधने में भी मदद की और ऐसे माध्यम बन गए जिसके द्वारा वैज्ञानिक निरीक्षणों और अटकलों का भारत और बाहरी देशों के बीच आदान–प्रदान होने लगा। डिप्टी सर्वेयर जेनरल जे0 डी0 हर्बट ने 1829 में ग्लिनिंग्स इन साइंस नामक पत्रिका निकाली। आरम्भ में यह पत्रिका यूरोप के वैज्ञानिक निबंधों का सार संग्रह करने के साथ–साथ स्थानीय खबरें भी प्रकाशित करती थी, किन्तु शीघ्र ही इसमें स्थानीय सप्रेषण का दायरा इतना विस्तृत हो गया कि हुगली नदी पर स्टीमर का चलन शुरू होने से लेकर भारत में शराब को ठंडा बनाए रखने की विधि तक प्रकाशित होने लगी। एक समीक्षक ने शिकायत की कि भारत में वैज्ञानिक अध्ययन के अवसरों की बहुलता के बावजूद एशियाटिक सोसायटी ने भौतिक विज्ञान और प्राकृतिक इतिहास की अपेक्षा की है, विलियम जोंस की मुख्य अभिरूचि साहित्य में थी और विदेशी सरकार इस बात के लिए विवश थी कि वह विज्ञान की अपेक्षा भाषा को अधिक महत्व दें।[35] फिर आम लोगों की भाव शून्यता भी शासकीय उदासीनता में कम उत्साहभंजक नहीं थी। ऐसे समय में जबकि लन्दन का जिॲलॉजिक सोसायटी अपने 700 सदस्यों का संख्या पर गर्व कर सकता था, एशियाटिक सोसायटी की सदस्य संख्या 250 से शायद ही कभी आगे बढ़ी। 1845 में तो यह घटकर 119 पर आ गई। जिस सोसायटी के सत्र आरंभ में साप्ताहिक होते थे, वह 1799 तक मासिक बैठकों पर उत्तर आई। भारत के अन्य विद्वत समाजो के समर्थकों और ग्राहकों की संख्या तो और भी निराशाजनक थी। कलकत्ता के मेडिकल एवं फिजिकल सोसायटी के दो सौ से कुछ ही अधिक सदस्य थे। 1829 में ग्लिनिंग्स के सम्पादक के आकलन के अनुसार बंगाल में उसके पाठको की संख्या दो हजार से अधिक नहीं थी। तीन साल बाद ग्लिनिंग्स का जिम्मा एशियाटिक सोसायटी ने ले लिया और उसे जर्नल ऑफ द एशियाटिक सोसायटी में शामिल कर लिया। इसने अगले 50 वर्षों में वैज्ञानिक विषयों पर कई सौ लेख प्रकाशित किया।[36]

ग्लिनिंग्स की नियमि से विचलितहुए बिना 1820 और 1850 के दशकों के बीच कई वैज्ञानिक और चिकित्सीय पत्रिकाओं ने अपने को स्थापित करने का प्रयास किया। इनमें एक था शल्य चिकित्सक जॉन मैक्लीलैंड द्वारा 1840 में प्रकाशित

कलकत्ता जर्नल ऑफ नेचुरल हिस्ट्र। मैक्सीलैंड ने आरम्भ में कई लेख स्वयं लिखे। उसका पहला सम्पादकीय शुभ संकेत देने वाला नहीं था। ''ब्रिटिश भारत के महानगर में एक ऐसी पत्रिका जो पूरी तरह विज्ञान से सम्बद्ध हो, के अभाव के लिए सामान्य खेद प्रकाश यही है कि यह लाभकर नहीं होगी। इसके बावजूद वह महानगर की रूचि को जाँचने के लिए कटिबद्ध था।[37] उसे पर भी उम्मीद थी कि कलकत्ता जर्नल ब्रिटिश एसोसिएशन फॉर द एडवांसमेंट ऑफ साइंस की भारतीय शाखा का केन्द्र बिन्दु बन जाएगा। उसके अनुसार इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत में जहाँ विज्ञान को बढ़ावा देनेवालों की संख्या नगण्य है और उनके नानाविध कर्त्तव्यों का स्वरूप उन्हें स्थान पर एकत्र होने में बाधा डालता है।[38] ऐसी पत्रिका का प्रकाशन विशेष रूप से आवश्यक है। लेकिन उसकी यह परिकल्पना आवश्यक समर्थन जुटा पाने में विफल रही और 1847 में पत्रिका का प्रकाशन बन्द हो गया।

इस काल की अनेक पत्रिकाओं ने जिस रूप में अपने पाठक वर्ग को शिक्षित और अनुप्राणित करना शुरू किया उससे जाहिर होता है कि विज्ञान शासन का उपकरण क्रम और यूरोप के विशिष्ट वर्ग की सामाजिकपहचान तथा सामाजिक पहचान तथा सामाजिक सम्बद्धता वो विकसित करने का साधन अधिक था। तर्क दिया गया है कि वर्ग–विभेद की बठती चााई वाले ब्रिटेन में वैज्ञानिक समाजो ने नवजात शहरी मध्यम वर्ग में एकजुटता और सामूहिक उद्देश्य के भाव पैदा किए, विज्ञान द्रुत सामाजिक परिवर्तन और श्रमिक वर्ग के जुझारूपन के संकाटापन्न विश्व में व्यवस्था का प्रतीक था।[39] ऐसी ही दलील मैथ्यू एडनी ने दी है कि भारत में विज्ञान के अनुसरण ने यूरोप के विशिष्ट वर्ग को भारतीयों और ब्रिटिश सैनिकों, सौदागरों और बगान मालिकों से भिन्न पहचान देने में सहायता की।[40] निश्चिय ही विज्ञान ने भारत के शिक्षित यूरोपवासियों में सांस्कृतिक सामान्यता का भाव भरा और उन्हें यूरोप के संस्कृत समाज के साथ सम्पर्क कायम करने में भी मदद की। इसने औपनिवेशिक विशिष्ट वर्ग का आश्वस्ति प्रदान की कि वे मैट्रोपालिटिन अभिरूचि वाली दुनिया के लोग है, अथवा वे उसमें आसानी से प्रवेश पा सकते हैं। एशियाटिक रिसर्चेज के एक खण्ड के सम्पादक जो भूगर्भशास्त्र में गहरी दिलचस्पी रखता था, ये दावा किया कि भारत में स्थित प्रत्येक यूरोपवासी विज्ञान में योगदान करने में समर्थन है। क्योंकि हमारे देशवासी पूरव में पृथ्वी की सतह पर वैसे भूभाग पर विखरे–फैले है जो वैज्ञानिक अन्वेषणों में अछूता है, अतः एक सामान्य पर्यवेक्षक भी वैसी दृश्य घटनाओं को देखने से शायद ही चूके जो भौतिक शोधो के लिए महत्वपूर्ण है। अवैज्ञानिक जाँचकर्त्ता संग्रह और निरिक्षण ने अधिक कुछ नहीं कर सकता किन्तु वह प्राप्त तथ्यों को वैसे लोगों के हवाले कर सकता है, जो उसका बेहतर उपयोग कर सकते हैं, अथवा आत्म–प्रशिक्षण के जरिए वह स्वयं अधिक सही ज्ञान प्राप्त कर सकता है।[41] 1844 में प्रकाशित कलकत्ता रिव्यू ने भी अपने शिक्षात्मक दायित्वों को गंभीरता के साथ लिया। इसका घोषित लक्ष्य था भारतीय मामलों की उपयोगी जानकारी और ठोस अभिमतों को एक साथ करना और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जनता की दशा में सुधार लाना। सम्पादक ने खुली घोषणा की, अज्ञान इस देश का अभिशाप है, वह अज्ञान नहीं जो मूलवासियों के अँधरे कोटरो में व्याप्त है, बल्कि वह अज्ञान जो वैसे उच्च लोगों में शासक वर्ग में व्याप्त है, जिन्हें रहस्मय विधाता ने भारत की नियति सौंपी है।[42]

ऐसी सोच के पीछे उस काल क अधिकांश वैज्ञानिक साहित्य की भाँति कम्पनी की विज्ञान संबंधी कम जानकारी अथवा उदासीनता के प्रति आलोचना का भाव काम कर रहा था। लेकिन रिव्यू का मूलवासियों के अँधेरे कोटरों का सरसरी जिक्र कम्पनी के अधीन विज्ञान के एक अन्य पक्ष को उजागर करता है। वह है, उसकी बहिरंगता। ऐसी घोषणाएँ तो अवश्य होती थी कि भारत में ब्रिटिश सरकार का महान लक्ष्य भारत के मूलवासियों के बीच साहित्य और विज्ञान को प्रोत्साहन देना है।[43] लेकिन वैज्ञानिक समाजों, संग्रहालयों और पत्रिकाओं के मामले में स्पष्ट हो जाता था कि पाश्चात्य विज्ञान मुख्य रूप से भारत और भारतीयों के बारे में था और गौण रूप से उनके लिए तथा उनके द्वारा। एशियाटिक सोसायटी के सारे सदस्य यूरोपीय ही थे

और जोंस ने अपने उद्घाटन भाषण में यह स्पष्टकर दिया था कि भारतीय उसमें शामिल किए जाए या नहीं, इस पर बाद में विचार होगा। यूरोपवासी समय–समय पर उनकी ओर से लेख अवश्य प्रस्तुत करते थे, किन्तु 1929 तक एक भी भारतीय को सोसायटी की सदस्यता नहीं दी गई। बाद में उनको सक्रिय भागीदारी मिली। इनमें एक उल्लेखनीय उदाहरण है राय कमलसेन का जो 1848 से एशियाटिक सोसायटी का देशज सचिव रहा। उसने सोसायटी के संग्रहालय को अनेक वस्तुएँ प्रदान की। बम्बई लिटररि सोसायटी के पास उसके आरंभिक वर्षों में भी एक बौद्धिक कार्यसूची और कुछ सामाजिक कार्य थे। इसके सदस्य चुनिंदा उच्च पदस्थ यूरोपीय थे जो पारस्परिक मैत्री के लिए एकत्र होते थे और बौद्धिक आहार और भावनात्मक प्रवाह के लिए भी। 1840 के बाद देश में शिक्षा के विकास के स्वाभाविक परिमाणस्वरूप इसमें भारतीयों को शामिल किया जाना निश्चय ही एक नया उपक्रम था।[44]

इसके बावजूद ऐसा मानना गलत होगा कि भारतीय इस काल के वैज्ञानिक अनुशीलन से बिल्कुल अलग–थलग थे। एक विलक्षण उदाहरण बालशास्त्री जाबेदकर का है। रत्नगिरि जिले का यह ब्राह्मण 1827 में मात्र 17 वर्ष की आयु में बम्बई एजुकेशनल सोसायटी का सचिव बना और लॉर्ड ब्रूकम के ट्रिटाइज ऑन द ऑब्जेक्ट्रस, एडवांटेजेज एण्ड प्लेजम ऑफ साइंस का मराठी में अनुवाद किया। यह रॉयल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई शाखा ओरिएंटल ट्रांसलेशन कमिटि का देशज सचिव था और ब्रिटिश प्राच्यशास्त्रियों के सामानांतर कार्य करता हरा। 1834 में एलिफिंस्टन कॉलेज की स्थापना होने पर वह गणित का प्राध्यापक बन गया और खगोलशास्त्र तथा गणित का अध्यापन करने के साथ–साथ वैज्ञानिक रचनाओं का भी माराटी में अनुवाद किया। उसने अपनी आंग्ल–मराठी पत्रिका दर्पण के माध्यम से रसायनशास्त्र, प्राकृतिक इतिहास और पश्चिम के उपयोगी ज्ञान के अन्य पक्षों में भारतीयों की अभिरूचि को भी प्रोत्साहित किया। दर्पण और उसका अनुवर्ती दिग्दर्पण बम्बई के पश्चिम में शिक्षा प्राप्त वैसे लोगों की पहली पीढ़ी की अभिवृत्तियों और रूचियों को प्रतिबिबिंत करते थे जो भारत के बौद्धिक क्षितिज के विस्तार और उसके पारम्परिक सामाजिक–धार्मिक विश्वासों के पुनर्मूल्यांकन के कायस थे।[45] इसके कार्यक्रम एशियाटिक सोसायटी की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक थे, इसलिए कलकत्ता एग्रिकल्चर एण्ड होर्टिकल्चर सोसायटी आरंभ में ही भारतीयों को पदाधिकारी और सदस्य बहाल करता था। इनमें द्वारकानाथ टैगोर और राधाकान्त देव जैसे अग्रणी भद्रलोक शामिल थे। कृषि संबंधी उपयोगी ज्ञान के प्रसार और विकास के अपने वृहत्तर उद्देश्य के अनुरूप सोसायटी के कुछ अनुवाद बंगाली में भी करवाए।

निष्कर्ष :

भारतीय कम्पनी कालीन पाश्चात्य विज्ञान के निष्क्रिय दर्शक मात्र अथवा सिर्फ सूचना देने वाले थे। इसमें संदेह नहीं कि कलकत्ता और बम्बई में मध्यवर्गीय भारतीय पाश्चात्य विज्ञान और प्रौद्योगिकी की ओर आकृष्ट तो हुए ही उनके मन में यह जिज्ञासा भी पैदा हुई कि ब्रिटिश शासन किस प्रकार इनकी मदद से बौद्धिक जगत के शासन और शोषण में सफल हुए ।

संदर्भ :

1. जीन थिअॅडॉराइडिज, हम्बोल्त एण्ड इंगलेंड, ब्रिटिश जर्नल फॉर द हिस्ट्री ऑफ साइंस–3 (1966) पृ– 43–44
2. फ्रेडरिक बर्खाते एण्ड किडनी स्मिथ– द कारस्पोन्डेंस ऑफ चार्ल्स डार्विन, खण्ड–II एवं VII (कैंब्रिज–1986–91)
3. रेडेसमॉन्ड ''द यूरोपियन डिस्कॅवरी ऑफ द इण्डियन फ्लोरा (ऑक्सफोर्ड, 1992, पृ– 47–50)

4. जैक मारेल एण्ड अर्नोल्ड ठाकरे, जेंटलमेन ऑफ साइंस अर्ली इयर्स ऑफ द ब्रिटिश एशोसिएशन फॉर द एडभांस मेन्ट ऑफ साइंस (ऑक्सफोर्ड, 1981) पृ– 352
5. लिऑनर्ड हक्सले, ''लाइफ एण्ड लेटर्ज ऑफ सर जोसेफ डालटन हूकर (लन्दन, 1918) पृ–358
6. डेसमॅण्ड, डिस्कॅवरी, पृ–VI
7. टी.जो. न्यूबॉल्ड ''समरी ऑफ द जिअलॉजि ऑफ साउदर्न इण्डिया, जर्नल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसायटी–Vol–12 पृ–95
8. दीपक कुमार, साइंस एण्ड द राज, 1857–1905 (दिल्ली 1995) पृ–70
9. ए0 पी0 होव, टूर्स फॉर साइटिफिक एण्ड इकॅनॉमिकल रिसर्च मेड इन गुजरात, काठियावाड़, बम्बई 1855
10. कुमार, साइंस, पृ– 33
11. फ्रांसिस बुकानन, एन एकाउंट ऑफ द डिस्ट्रिकट्स ऑफ बिहार एण्ड पटना इन–1811–12 (पटना, 1934) पृ–I–IV
12. विक्जिअनी, एंपीरियलिज्म, पृ–643–44
13. फ्रांसिस बुकानन, जर्नी फ्रॉम मद्रास थ्रू द कंट्रीज ऑफ मैसूर, पृ–126
14. राजेन्द्र लाल मित्रा, हिस्ट्री ऑफ द सोसायटी (कलकत्ता 1885) पृ–18
15. कुमार, साइंस, पृ–66
16. विलियम विल्सन हंटर, लाइफ ऑफ ब्रियान ह्यूगटन हॉगसन (लन्दन 1896)
17. मॉटेल एण्ड ठाकरे, जेंटलमेन, पृ–302–3
18. एन.जे.सी., वेस्टर्न साइंस इन इण्डिया विफोर 1850–जनरल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसायटी, भाग–2
19. जेम्स हार्डी, रियार्क्स ऑन द जिअॅलॉजि ऑफ द कंट्री–पृ–82–99
20. ई0 डब्लू0 सी0, द मिलिटरि एंजिनिअर इन इण्डिया–II, पृ–275–77
21. मैथ्यू एच. एडनी, मैपिंग एन एंपायर, पृ–147
22. एंड्रू ग्राउट, जिअॅलजि एण्ड इंडिया–1770–1851, पृ–83
23. पी.एन.बोस, नेचुरल साइंस, पृ–61
24. हूकर टु डार्विन, कैरस्पेंन्डेंस–III, पृ–172
25. फ्रेकलिन, जिअॅलॉजि, पृ–37
26. बर्क्स ऑन द रियालयाज, कलकत्ता रिव्यू, पृ–163–65
27. सतपाल संगर्वा, रिऑडरिंग द अर्थ (1994), पृ–305
28. ओ.पी.केजरीवाल, द एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल एण्ड द डिस्कॅवरी ऑफ इंडियाज पास्ट–1784–1838 (दिल्ली 1988)
29. इंट्रोडक्शन, एशियाटिक रिसर्चज–18, पृ–1
30. ए.नीलमेघन, डेवलपमेंट ऑफ मेडिकल सोसायटीज एण्ड मेडिकल पीरियडिकल्स इन इण्डिया–1780–1920, कलकत्ता–1963
31. बी.बी. सुब्बारायप्पा, वेस्टर्न साइंस इन इंडिया (नई दिल्ली 1971), पृ–128–29
32. बर्खार्त एण्ड स्मिथ (एडिशंस) कॅरेस्पॅन्डेस, पृ–392, 401

33. जॉन जिमॅन, द फोर्म ऑफ नॉलिज, पृ–97–99
34. सुब्बारायप्पा, साइंस, पृ–500
35. ग्राउट, जिऍलॉजि एण्ड इण्डिया, पृ–87–104
36. कलकत्ता जर्नल ऑफ नेचुरल हिस्ट्र, पृ–11
37. वहीं, पृ–8
38. मोरेल एण्ड ठाकरे, जेंट्लमेन, पृ–22–31
39. एडनी, मैपिंग, पृ–33
40. एशियाटिक रिसर्चेज, 1833, पृ–11
41. कलकत्ता रिव्यू–1, पृ–11
42. जॉन रोसेल्ली, लार्ड विलियम वेंटिक, पृ–220
43. आट स्कॉट, हिस्ट्री ऑफ द सोसायटी (बम्बई–1905),, पृ–17, 23
44. रोजालिंड ओ, हेनलॉन : कास्ट कनफ्लिक्ट एण्ड आइडिऍलॉजि, पृ–90–92
45. जिम मैकिलैड, द डिकोर्स फ्रॉम द अद साइड, पृ–80